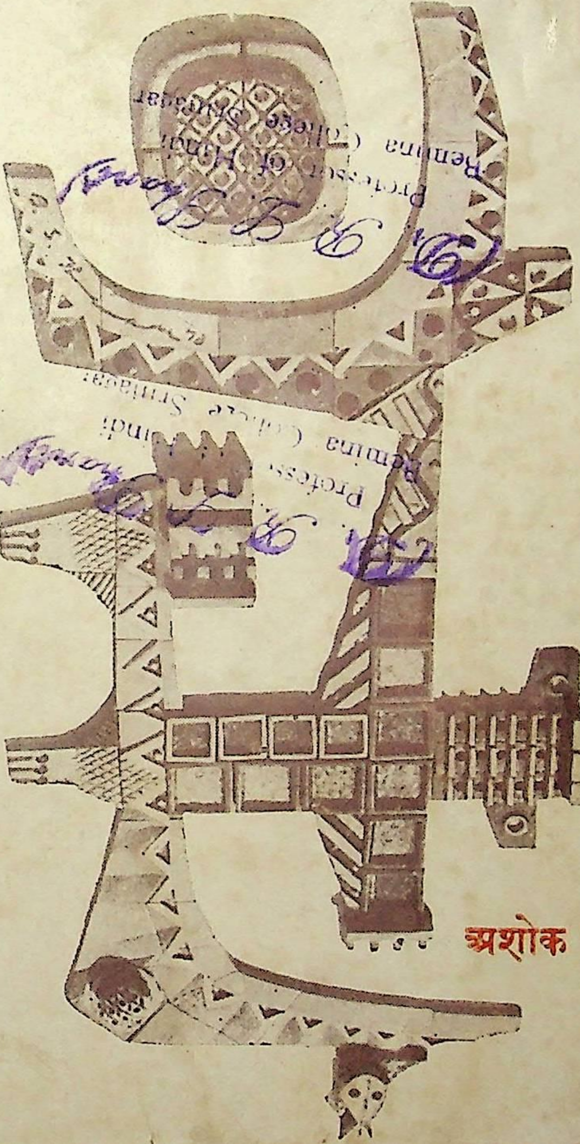
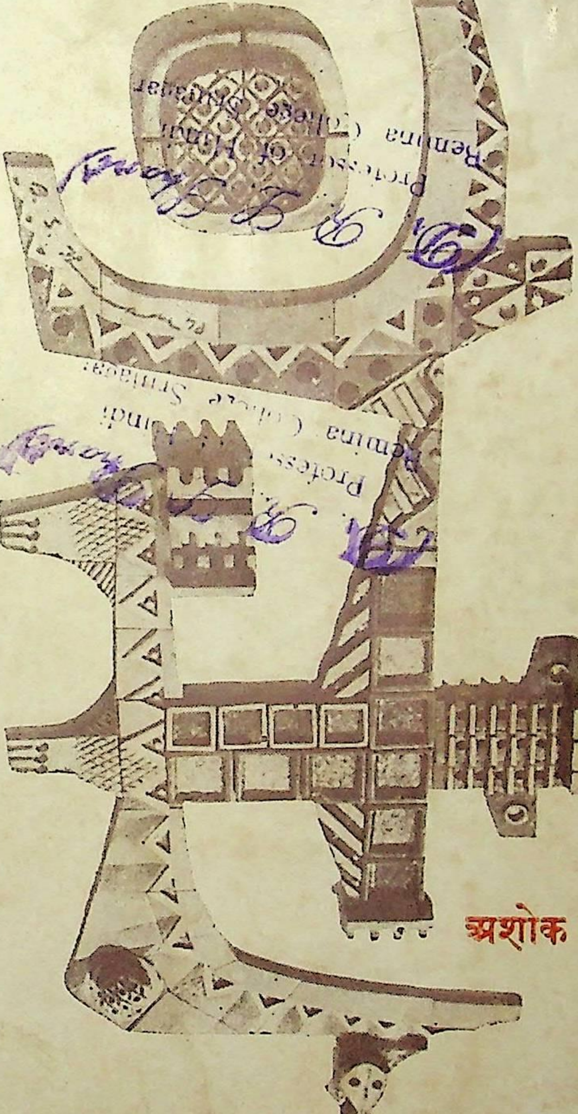
आहत चीड़ें



अशोक जेरथ

आहत चीड़ें



अशोक जेरथ



(अशोक जेरथ)

जन्म : 16 मार्च 1946

शिक्षा : एम. ए., (अंग्रेजी, हिन्दी), बी.एस.सी.,
बी.एड. डिप्लमा (बंगला, फ्रेंच)

मौलिक कृतियां :

1. न टूटने वाले पंख (उपन्यास)
2. आहत चीड़ें (काव्य संग्रह)
3. सुलगते देवदार (प्रकाश्य उपन्यास)
4. चेरी के फूल (प्रकाश्य कथा संग्रह)

सम्पादन :

1. तवी (डोगरी प्रभाग, 1965-66)
2. टीचर (हिन्दी प्रभाग, 1967-68)
3. संघर्ष (छात्र अखबार 1969)
4. मधुरिमा (एक अन्य सहयोगी
के साथ 1974-77)
5. डोगरी लोक-गाथाओं का संकलन,
सम्पादन और समीक्षा (शीघ्र प्रकाश्य)

अनुवाद :

सांझी धरती वखले मानु (डोगरी उपन्यास
का हिन्दी अनुवाद) शीघ्र प्रकाश्य ।

શ્રી રતિલાલ ભા ભટ્ટને
સાદર
[illegible]
16. 3. '80.

आहत चीड़ें

अशोक जेरथ

Ahat Chiren

A compilation of Hindi Poems.

आमुख
ललितकला अकादमी जम्मू के सौजन्य से

o

सर्वाधिकार
अशोक जेरथ

o

प्रथम संस्करण
१९७९

o

प्राप्ति स्थान
१. १८१—मस्तगढ़, जम्मू
२. निस्तन्द्र प्रकाशन, कूचा सोमनाथ, गली मलहोत्रा, जम्मू

o

मूल्य : आठ रुपये

o

मुद्रक
एस. एन. मगोत्रा प्रिंटिंग प्रैस, गली खिलौनेयां जम्मू

o

प्रकाशक
निस्तन्द्र प्रकाशन, कूचा सोमनाथ, गली मलहोत्रा, जम्मू

यह संग्रह जम्मू कश्मीर ललित कला अकादमी के आर्थिक सहयोग से छपा है, अतः लेखक अकादमी का आभारी है। किन्तु इसकी किसी भी ग़लती के लिए अकादमी उत्तरदायी नहीं।

ऋतु को
जो अपने आगोश में भरकर
पल-पल बदलते रूप में
लोरियां देती है
अपनी हवाओं रूपी बाहों की सुगन्ध
में लपेट कर

अपनी ओर से

रचनाओं के साथ साथ रचनाओं पर कुछ कहना बड़ा कठिन कार्य है विशेषतया, अपनी ही रचनाओं पर

कवि जीवन का आरम्भ छन्दोमयी रचनाओं के लेखन से हुआ था किन्तु कुछ ही समय के बाद लगने लगा कि तुक और छन्द मिलाने के प्रयास में लिखने का आग्रह शिथिल पड़ने लगा है ।

बेकारी के दिनों में केवल खाली बैठना, खुले आकाश को ताकना और आड़ी-तिरछी रेखाएं बनाना एक मजबूरी थी जिसे झेलना नियति । आकाश कभी फैलता कभी सिकुड़ जाता । उसके मखमली चकत्ते अपनी ओर खींचते रहते । चील की उड़ान भर उन चकत्तों तक पहुंचने का स्वप्न हाथ की उंगलियों पर बिखरे सौरभ की तरह बांधता रहता । सौरभ उतरने के बाद भी जो उंगलियों पर से उभरती-सुगन्ध का अहसास दिलाता रहता है । प्रातः के बाद के आकाश का उजास, नवअंकुर जैसे कोमल-शीतल भाव बिखरा देता जो सांझ तक पक कर बिल की तरह पक्के हो जाते । चाहकर भी उनके आवरण को मैं हटा न पाता । एक गुमसुम सी अवस्था ।

धीरे धीरे कुछ भी लोक लेने का अहसास उभरने लगा था । पिछले अनभवों के आधार पर जो कुछ इकट्ठा कर पाया

उनमें से सब से बड़ी पुंजी थी जो नहीं चाहता था वही बनने का अहसास। शुरु शुरु में इसकी अनुभूति बड़ी तीक्षण रही थी। अन्दर ही अन्दर कुछ कुतरा जा रहा है महसूस करता रहता। बीच बीच में कुछ तरल होकर बह जाता--क्या? कभी समझ नहीं पाया। बाद में अनुभूतियां ही स्वयं जम गई थीं। धीरे धीरे समय के साथ साथ स्वयं हो समझौता हो गया था, कब? ठीक से नहीं जानता। केवल एक बेबसो सी महसूसता रहता था। आस पास के बन्धु बान्धव धीरे धीरे बिखर कर दूर दूर तक फैल गए थे। उन तक पहुंच, एक कठिन कार्य था इसे ही कुण्ठा कहते हैं, इसका आभास बड़ी देर के बाद हुआ था। व्यक्ति कुण्ठित होकर पलायनवादी हो जाता है—ऐसा अकसर सुनने में आता पर कभी ऐसी उक्ति मेरे साथ साथ भी चलेगी, नहीं सोचा था। कुण्ठित होकर भी सम्पूर्ण पलायनवादी न बन सका—नियति के आग़ोश में मचलने लगा था।

तीसरे दौर में जो कुछ उपलब्धियां हो पाईं उन में सबसे बड़ी थी—जड़ता की ओर जाने का अहसास। आकाश अब भी फैलता है, अब भी उस पर मखमली चिकते बिखर जाते हैं लेकिन चील को उड़ान से उन तक पहुंचने का अब मन नहीं होता। सुनहले आकाश का उजास महत्वहीन होकर रह गया है और कलियों का प्रस्फुटन मात्र एक दिनचर्या। यह अन्तहीन आनाम यात्रा कहां, कब क्या, मन में बिखरा दे, क्या पता?

इन तीनों मन:स्थितियों की अभिव्यक्ति कविताओं के माध्यम से पाठक जगत तक रखने का तुच्छ प्रयास है।

अशोक जेरथ

181–मस्तगढ़, जम्मू।

कविता क्रम

पृष्ठ

□

तुम्हारी चिट्ठी

तुम्हारी चिट्ठी मिली
खोलने से पहले ही तुम्हारी गन्ध को –
महसूस कर लिया है मैंने ।
तुम्हारे शब्दों में फैली उदासी
धीरे-धीरे मेरे अन्तस् में तिर आई है
तुम्हारे यहां की भीगी शाम
मेरी गर्म दुपहरी पर–
घटा सी घिर आई है ।
चिनार के कटे सहस्रों टुकड़ों को
जो तुमने उछाला है
बरगद की घनेरी छांव में
मैंने एक-एक लोक लिया है ।
सूखे जंगलों की-सी ख़ामोशी,
देवदारों की सनसनाहट
बुढ़ाया समय फिर लौट आया है,
याद है तुम्हें
जब समय गूंगे प्रहरी की तरह
थम गया था
दोनों हाथों से–

रोशनियों को उलीच
हमने उस दिन के सूर्य को—
जला दिया था
सहकता-सा उसका बिम्ब
कई रोज तक शीशे की—
पारदर्शक दीवारों के उस ओर
छटपटाता रहा था—
अपनी रिहाई के लिए
तुमने अंजली में समेटकर
उसे चोली में रख लिया था
उसके बाद—
कुछ याद नहीं
जैसे सब आत्मसात्—
कर लिया हो मैंने।
तुम्हारी चिट्ठी मिली
खोलने से पहले ही तुम्हारी गन्ध को
महसूस कर लिया है मैंने।

□

एक भीगी शाम

अजनबी कटी-सी ख़ामोश भीड़ का
कंटीली पिलियाई चादर से ढके —
बबूल-सा प्रहरी;
ठंडी-ठंडी मीठी पीर से गहराई
गर्म-गर्म दुपहरी
अंजन से भरी —
चीख़ती-सी ख़ामोश रातें
सिमटी हुई फैल-फैल जाती हैं
चुप-सी बातें
और ?
और तो कुछ दिखा नहीं
हाय ! उसने कुछ भी तो लिखा नहीं ।

पहली फुहार से उमड़े कूल
गन्धाता पराग उड़ा रहा धूल
रजनी अन्जन का छोड़ सहारा
विचरने लगी गन्ध की चाह में;
हुलसी धरा रो दी
छोड़ने लगी मोती-बिन्दु

भोर की राह में
गूंज उठी दोयल[1] की सी-सी शालवन में
गुम हुई पीड़ा फिर टीस उठी मन में
चकोर की आंखे ढूंढने लगीं,
किसी चन्द्र को
पर !
कुछ भी तो दिखा नहीं
हाय !
उसने कुछ भी तो लिखा नहीं।

□

1 दोयल : काले रंग का कोयल की तरह का एक पक्षी जो शाल वनों में सी - सी की गूंज करता है।

स्मृतिकण

मुसकाई संध्या
दिनकर के विदाई चुम्बन से—
आरक्त हुआ दिगन्तर,
काकली विहगों की बिखर गई
दिशा-दिशान्तर ।
करवट ली लता-तरु-मृग-मानस ने
विटप टू-टू विटप टू-टू कांपे कुन्ज—
कूजन से;
गोधूली उड़ाता शान्त हुआ जनपथ
विजन से ।
विहगों की डार-डार
मुखो-मुखी बार-बार
बिलखते, उलझते, टूटते फिर जुड़ जाते
यही बस स्मृतिकणों का सार
डोलते मन को मोरपंख से
अतीत से क्षण तक फैले—
आषाढ़ की शीतल पवन से
टूटते, बनते, फीके, रंगीन
कुछ स्वादहीन

अंकों में तीस-वीस से
उभरते हैं फिर टीस से
फूटती फुनगियों में नवचिनगियों से
रजनीगन्धा की वास से
फैले वातास में
भर-भर देते हैं मन, पांख, मानस, अनायास
टूटकर गिर-गिर पड़ते हैं नक्षत्रों से वढ़ते –
सायास
फैले नीलाम्बर में सुवहो-शाम
उतर आते हैं अस्ताचल –
के साथ-साथ
गतिमान ये स्मृतिकण
गतिमान –
यह प्राणों का उसास
पिघली अनुभूति से,
तरलगीत स्वर से,
भूली बिसरी यादों के
सञ्चित घर से
ले आते हैं शक्ति कुछ ऐसी
पिघला देते हैं समय को भी –
आगोश में भर कर
फैला देते हैं चारों ओर
दीवारों को ढहा कर
सञ्चित हो जाते हैं

अस्तित्व को बहाकर
फिर कैसे हुलसकर, तिल-तिल जलकर सो जाते हैं
कुछ मीठे कुछ खट्टे, कड़वे बीज
ये स्मृतिकण
बढ़ने के लिए बो[1] जाते हैं।

□

1 बोना : बीजना / रोपना

पिट जाता है सब कुछ नया

चांद को ग्रस-कर ज्योत्सना छलका दी है
सूरज की तपिश को अंजली में भर उछाल दिया है
अब और कुछ भी करने को जी नहीं चाहता
ठहरा हुआ कुछ चलने लगा है बहता-बहता
कुछ क्षण खुलकर फैल जाते हैं
बहुत-सा समय सिमट कर बन्द हो जाता है
दीवारों पर बने ख़ाके उभर आते हैं
छुप जाते हैं ज़िन्दा अरमान
पिट जाता है सब कुछ नया
जाग उठता है एक पुराना इन्सान ।
पिघला हुआ कुछ अन्तर में बहने लगता है
चुपके चुपके से कोई कहने लगता है
अब तो छोड़ो सूरज को, चन्द्र की ज्योत्सना फैलादो ।
मिटा दो सब कुछ नया, पुराना फिर से छलका दो
उठाओ कलम कुछ लिखो ऐसा
फिर से भड़क उठें अरमान
जाग उठे फिर से सोया, एक पुराना इन्सान ।

तुम्हारी याद में

टूटने लगते हैं जब दिन
रातें फैल जाती हैं
सच मानो, तुम्हारी बहुत याद आती है।
रजनीगन्धा छोड़ने लगती है वास
गूंजने लगती है चारों ओर एक ख़ामोश-सी आवाज़
चलने लगती है मन्द-मन्द बयार;
बंद होने लगती हैं खिड़कियां
हिलने लगते हैं झोंपड़ियों के द्वार;
सरसराने लगती हैं पुरानी अपूरित कहानियां
टीसने लगती हैं यादें सहसा
अपने आप ही बनने लगते हैं शब्द
अपने आप ही गठित हो जाती है भाषा
तृणों पर सोई शबनम
सुबह होने से पहले ही कहीं खो जाती है
सच मानो, तुम्हारी बहुत याद आती है।

□

संसार चक्र

जीवन कहीं भूल गया हूं
मृत्यु—
एक दुःस्वप्न की तरह
आगे बढ़ आई है
बीच में—
कुछ पहचानी सीढ़ियां हैं
जिन पर
हर रोज़ चढ़ता हूं
हर रोज़ उतरता हूं
पर
फिर भूल जाता हूं ।

□

लोक राज

ओक के पत्ते झड़कर
देवदारों की फर पर बैठ गए हैं
देवदारों ने झुककर चीड़ों को छूना शुरु कर दिया है
चीड़ों के वृक्ष देवदारों के भार से
वार-वार गर्जन करते हैं
सहारे की तलाश में
अपनी फर को इधर-उधर हिलाते हैं
उनके चिर-सञ्चित चिकनाई के स्रोत फूट पड़ते हैं
चिलगोजों से भरे चट्टानु[1]
पहाड़ों की तलहट्टी में शोर करते —
सहारे को ढूंढते खुद गुम हो जाते हैं।
पहाड़ों की सतह पर दूर-दूर तक फैली झाड़ियां
चीड़ों के चीत्कार को सुन —
पल भर को सर उठाकर फिर
कुञ्चित हो जाती हैं;
उनसे चीड़ों की पीड़ा
देखी-सुनी नहीं जाती।
यही आम आदमी की नियति है—
यही है लोक राज

ऐसे में ही सोई ध्वनियां करवट वदलती हैं
मिलकर वन जाती हैं एक आवाज़
उठ जाते हैं करोड़ों हाथ
एक साथ
फिर ओक, देवदार और चीड़ों को—
चलाने वाली हवाएं ठहर जाती हैं।
केवल झाड़ियां और घास झूमते हैं
अब उन्हें अपने ऊपर—
ओक के पत्ते, देवदार की फर औ'
चीड़ों के चट्टानु[1] गिरने का डर नहीं होता।

□

1 चट्टानु : चीड़ों के फल, जिनमें से चिलगोज़े निकलते हैं।

नियति

लाटरी का कांटा
घूमते-घूमते कांपकर खड़ा हो गया
कई खाली घर—
उसे ईर्ष्या और क्रोध की दृष्टि से—
देखने लगे।
रवि चिंता करने लगा
कि कई वर्षों से—
वह इस कांटे को
घूमते-खड़े होते देखते आया है
किन्तु भूल से भी
कभी उसके घर में रुका नही;
केवल खाली घर
और कुछ 'स्लोगन'
'शिक्षा हमारा मूल अधिकार है'
'हमें डिग्री नहीं भात चाहिए'
'स्वछन्द विचार लोक राज का आधार हैं'
वह कभी भी समझ नहीं पाया—
कौन-सा 'स्लोगन' ठीक है
उसके कान में कभी-कभी—

ऐतिहासिक 'स्लोगन' फूट पड़ता—
"तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूंगा"
रवि सोचता—
यदि मैं रक्त द्वारा सिंचित डिग्रियाँ दूं
तो बदले में क्या पाऊंगा ?
एक बार फिर कांटा घूमते-घूमते
आहत पक्षी की तरह—
छटपटा कर
एक घर में खड़ा हो गया
किन्तु रवि का घर अभी भी खाली था।

□

अभी भोर नहीं हुई

चलते समय में सब कुछ बह गया है;
वह पंख वाला घोड़ा
जो दूर परी लोक में,
राजकुमारों के उज्जवल संसार में,
खजानों, में भूत नगरों में,
बौनों के संसार में,
हर क्षण उड़ता रहता था
थक कर थम-सा गया है।
पंख टूट कर बिखर गए हैं/पांव जख्मी
शायद इसीलिए परियां
परी लोक से इस लोक में उतर आई हैं
अपने-अपने राजकुमार के साथ
लैम्पपोस्ट के आलोक में
जीर्ण अवस्था में खड़ीं
देखती हैं खाली हांडी
फिर अपने-अपने राजकुमार की ओर—देखकर
हसती हैं नीरव और क्लांत हँसी
बीच-बीच में सुना जाता है एक चीत्कार
उठो! भोर हो गई है।
□

जिजीविषा

पहले की तरह इस बार भी
उसने हल चलाया था
लेकिन,
पता नहीं क्या हुआ
हल का कुन्दा सख्त धरती में
फंस कर टूट गया
उसके हाथ रह गया था केवल हत्था
पूर्व दिशा की ओर से उभरते बादलों को
पिघले मन से उसने निहारा
उसने सुन रखा था
उस ओर के किसानों ने
अपनी आंखों के पानी से
खेतों को सींचा था,
उन खेतों से जो पौधे उगे थे
वे सीधे सूरज की गरमाई तक—पहुंचे थे
उसने सूखे हाथों से—
अपनी आंखों को मला
पर उनमें कुछ भी शेष नहीं था
सब कुछ सूख गया था, सब कुछ।
□

पहलगाम की एक शाम

हर रोज की तरह आज भी
पनीली धूप देवदारों से उतर आई है
चलती रूई-से आवारा बादल
आकाश की नीलिमा को ढकते-ढकते
थक कर नीचे भूल गए हैं
कोहरे की बाहों में
उन चीड़ों की ऊंचाईयों तक
जहां अकसर तुम खड़ी होकर पुकारा करती थी---
लिद्दर की सप्तधारा को,
देखा करती थी ठिठोली करते
सहस्रों नरगिस के फूलों को
जिनके अनेक रंगो के प्रिज़्म में
जाने कितने संसार बनकर टूट गए हैं
लिद्दर के किनारे, आहों के सहारे
कुछ अनचीन्हा-सा घाटी में लहरा जाता
पहचाना-सा नशा छा जाता
सूरज थका-सा सहमा-सहमा चलता रहता नाकाम
कोहरे की बाहों में उभरती आती —
पहलगाम की रंगीन शाम।

मेरा हँसना हँसना नहीं मेरे दोस्त

मेरा हँसना हँसना नहीं मेरे दोस्त
जिस तरह बच्चे का रोना रोना नहीं होता
बच्चे के रोने से उसके बढ़ने का अहसास होता है
मुझे मेरे हँसने से घटने का आभास होता है।
हर सुबह एक नया आकाश बनाता हूं —
मैं अपने लिए
किन्तु हर बार इसकी नीलिमा को
बादल ढक जाते हैं
हर रोज नए शब्द चुनता हूं —
मैं अपने लिए
किन्तु हर बार इनके अर्थ बदल जाते हैं
सुनता था बड़े होने पर आंसू
भीतर की ओर बहने लगते हैं
जितना वे भीतर की ओर बहते हैं
उतना ही अन्तर को भिगोते हैं
मैं हर बार उन्हें महसूस करता हूं
पर रोना नहीं होता
मेरा हँसना हँसना नहीं मेरे दोस्त
जिस तरह बच्चे का रोना रोना नहीं होता।

□

एक नई सुबह

कुछ फूल तुमने चुने
कुछ फूल हमने छांटे हैं
तुम्हारे फूल, फूल हो गए
हमारे फूल सब कांटे हैं
नरगिस को चूमने
झुक आए हैं देवदार
वे दर्द . . . . . ,
खुशबू बन बिखर गए
जो कलियों ने बांटे हैं,
रोवटों की तरह छाए थे
चारों ओर कुछ लोग
भेद तो अब खुला
वे बौने हैं नाटे हैं
खूब हुआ—
मख़मली बिस्तर पर
रात का सफर,
सुबह हुई, क्षितिज ने
निज हाथों कुमकुम बांटे हैं।

□

टैरेस की आगोश में

'टैरेस' की आगोश में
ठण्डक बैठ गई है
धूप की तपिश को
किस ने सहला दिया है ?
अनछुई कलियों के रंग
फीके पड़ गए
मल मल कर उन्हें
किस ने नहला दिया है ?
टुकड़े-टुकड़े होकर
बिखरा है आकाश
जख्मों को इसके
किस ने फैला दिया है ?
नीचे उतरने को हैं आतुर
ये चीड़ें
ऊंचे पर जाने किसने लगा दिया है ?
खुलकर, देखो बन्द होने लगे हैं
ये फूल
जाने किसने
इन्हें बहका दिया है ?

☐

तुम्हारे लिए

तुम्हारे लिए—
वह नव प्रात,
जिसमें
खिल उठेगी-शिशिर भीगी रात,
तुम्हारे लिए
वह नव राग,
गा उठेगा हर सवेरा गुनगुनाए गो हर रात,
तुम्हारे लिए—
कुहरा झीना आकाश,
सुरभित अवगुण्ठन खोल
गन्ध में डोलता मन उल्लास,
दिन वीते झर गए
स्वप्न रीते भर गए
लो ! बीती जाती है उपेक्षित रात,
घुटनो चलती नवशिशु सी
उतर रही है
सुनहरी प्रात
केवल तुम्हारे लिए ।

□

शिवाजी की स्मृति में

"टिमटिमा रहे थे सितारे—
पर फैला नहीं था प्रकाश,
गंगा कोई दूध की
सिकुड़ी-सी पड़ी थी उदास-उदास,
किसी चन्द्र की अपेक्षा में
फैल-फैल जाता था मेघला आकाश
अन्धकार, अन्धकार
अंजन के काले आंचल में
चन्द्र कहीं खो गया था
दूसरों को थपकी देता-देता
स्वयं ही सो गया था।
गर्व से भरी रजनी ने
अपना आंचल कुछ समेटा
कुछ फैलाया
चीर कर उसके आंचल को
एक सितारा निकल आया
अजब थी उसकी आभा
मचल-मचल जाती थी काली छाया।
कई करवटें लीं फिर उफन उठी थी वह

धरा था विकराल रूप
मसल दूंगी हठी
मैं हूं कुरूप तो क्या तेरा भी --
रहने दूंगी रूप"
तो सितारा मुसकराया था
उसका रूप और निखर आया था
"तू है काली तो मैं हूं शक्ति का दास
तू है काया तो मैं हूं इक विश्वास
मेरे दाहिने पार्श्व में भवानी की तेग है
मेरी रश्मियों में लपटों का सा वेग है
मैं जिधर देखूंगा—
उधर ही मेरे अनुगामी
उभर आएंगे
तेरे आंचल को भेदकर मुस्कराएंगे।"
रजनी ने प्रचण्ड रूप धर
फैलाए अनेक बवण्डर
फड़क-फड़क उठता उसको ग्रस लेने को हाथ
ग्रसने पर भी वह उभरता रहा
मुसकान के साथ
फिर और फिर और, फिर और
वह मुसकराया था
उसके चारों ओर प्रकाश
उभर आया था
निकल आए थे उसके
अनेक अनुगामी।"

इतना कह कर सो गई थी दादी मां
मचल गया था कुमार
और सुनने को कहानी
आगे क्या हुआ
पूरी करो कहानी
"फिर क्या बेटे !
रजनी हार गई थी
उसका आंचल छितरा आया था
उसी ग़म में वह आज तक है रोती
हर प्रातः तुम तृण पर शबनम जो देखते
शबनम नहीं, वे हैं उसके आंसू
उसकी आंखों के मोती।"
सितारा देखने को बालक लालायित हो उठा था
बोली थी दादी मां—
"जब अन्धकार मिटने लगा था
प्रभात आने में व्यस्त हो गया था
यह था १६८० का वर्ष
जब यह सितारा अस्त हो गया था।"

□

नया वर्ष

हर वर्ष के बाद
नया वर्ष सिकुड़ आता है
उन अंगीठिओं की तहों में से
जहां अंगारे सुलग-सुगल कर सो जाते हैं
राख की परतों से ढके
कई नए पुराने रंग
सुगबुगा आते हैं।
सुर्ख फिर और सुर्ख
नीले, काले फिर सफेद
फिर सब कुछ वही
जो सारा साल चलता है
उनको पलटकर फिर भर दिया जाता है
उसी से—
जिसको फिर पलट दिया जाएगा।
सिर्फ कुछ खाली है
जो चलता है और खनकता भी है।

□

नये दिन का सूरज

यह एक ज़माने की कहानी है
जब शीतल घास भुरमुरी हो आई थी
देवदारों ने ऊंचाइयों से नीचे झुककर
अपनी फर को जला लिया था
उसकी खाद में जाने किसने क्या वो दिया
कि जब नये दिन का सूर्य उगा
वह खूब ज़्यादा चमका था,
उससे सटे बादलों का बवंडर रो दिया था।
उस दिन के सूरज की तपिश को
हरेक ने महसूस किया था
उसने कितने ही आंसुओं को सुखाया था
किन्तु / न जाने क्यों उस सूरज की तपिश में–
छुपी ठण्डक
फिर उभर आई थी;
कई जोड़ी आंखें
उसमें चमक ढूंढते-ढूंढते थक गई थीं
आंसुओं की धारा बहती रही अविरल
उन्हें सुखाने वाली कोई
सूरजमुखी तपिश नहीं थी।

□

एक और वर्ष बीत गया

पक्षी, अपना पंख फैलाए
'ऐंटेंना' पर उतरा
पर्दे पर झिलमिलाहट हुई
कई दृश्य खुलकर फैल गए
कई बिखर कर सिमट गए
प्रकाश रश्मियों के कई रंगों में
समय कुछ देर ठहर गया था
फिर यूं ही चलने लगा था
एक छलांग में ही पंखों में हवा भरे
वह जाने कहां चला गया था
खिड़की के सीखचों के उस ओर
तैरता हुआ धब्बा, कहीं गुम हो गया था
लेकिन ऐंटेना खाली नहीं था
कोई दूसरा आ बैठा था
रंग का / आकार का अंतर
पक्षी को पक्षी से अलग नहीं करता
आवाज़ और स्वर अलग होने से भी
पक्षी, पक्षी ही होता है।
उड़ने और बैठने का अन्तर केवल समय का है

□

प्रतीक्षा

प्रतीक्षा की घड़ियों में
उतनी ही छूअन है
जितनी टीस
केकटस के कांटों को छू लेने से होती है
वे उंगलियों में
एक चुभन छोड़ जाते हैं
पर प्रतीक्षा की छूअन
उस चुभन से बड़ी होती है।
बहुत कुछ गलकर बह जाता है,
बहुत कुछ बनकर ढह जाता है,
कई रंग अंतर में सुगबुगाते रहते हैं
जुगनू की भांति मन के भाव
जलते हैं, भभकते हैं, बुझ जाते हैं।
सांध्य तारे की तरह कोई अकेला
मानस आकाश पर टिमटिमाता है
लम्बी घड़ियों में वही टूटकर
अनगिन तारों में गुम हो जाता है।
भूले बिसरे गीत की तरह
सारे अन्तस् को भिगोता

कण्ठ अवरुद्ध करता है कुछ
चेतन से छूटकर अवचेतन में
युद्ध करता है कुछ
अजाना, अनपहचाना
चलता रहता है नाकाम
धुंधलाई, फैकाशा
जैसे प्रकाश को तज कर
झुक आई हो
बूढ़ी सी शाम।
यही वे क्षण हैं
जब हर रोज तुम्हारी याद
बार-बार होती है
यही घड़ियां अन्तर्दाह की
इन्तजार की होती हैं।

□

शिक्षक

अनेक दिनों से
नियति को झेलते
सब समय
सब लोगों को
राह दिखाते
खड़े हैं
हम
मील पत्थर की तरह।

□

महत्वाकांक्षा

सोचता हूं किसी दिन
बड़ा आदमी बनूंगा
लेकिन
प्रत्येक ऊंची सीढ़ी पर—
चढ़ने से पहले
निचली सीढ़ी से
टकराकर
वहीं
खड़ा हो जाता हूं।

□

पारदर्शी हवाएं

हवाओं को न देखो दोस्त
ये पारदर्शी हैं
तुम्हारे अस्तित्व को
छुपातीं थीं कभी
धूल की आढ़ में
उठते कणों की बाढ़ में
प्रश्नाकुल मानसजीवियों की—
तीक्ष्ण नजर से
फैल-फैल जाती थी
इनकी परतों की छाया,
पतली-सी आवरण नुमा
झिलमिलाती काया।
फिर एक जिजीविषा लेकर उभरे थे
जिगीषु
जिगमिषा को कामना लिए
गर्द भरी हवाएं
फिर ठहर गईं थीं
उन्हें निथार लिया गया था
रात्रि भर भयंकर तुषारपात होता रहा

ठण्डी धूप से नहायी उभरी थी सुबह
हवाओं ने अपना चरित्र फिर से पकड़ा था
अब तो ये सूक्ष्म-दर्शी हैं
हवाओं को न देखो दोस्त
ये पारदर्शी हैं
अब ये अपने में किसी को छुपाने की
सामर्थ्य खो चुकी हैं
या फिर से अपने वजूद को
टटोला है इन्होंने,
आत्म-संयमी हैं या आत्मघाती हैं
अन्त:दर्शी हैं—
हवाओं को न देखो दोस्त
ये पारदर्शी हैं—

★

शाम के बाद

मेरी धरती का किनारा
छुप गया है उस दिगंत में
जहां—केवल प्रश्न चिन्ह हैं—
उन कुछेक बिखरे उत्तरों के
जो हर रात के उतरने से पहले
हर शाम के झुटपुटे के बाद
हर घोंसले में चहचहाते हैं
मुसकराते हैं, गाते हैं
पहचाने से अनचीन्हे गान,
जब शाम अपना आंचल फैलाए
वृक्षों के नीचे उतर कर
रात बन जाती है,
जब पारिजात की आंखों की लाली
धुंधलाकर मुर्झा जाती है,
हर पक्षी अपना अस्तित्व सम्भाले
थका-सा लौट आता है
जब हर पल खिसक कर रात की-स्याही
में खो जाता है
शबनम के कण काँटों के पोरों को

छूने लगते हैं
दिन का गौरव रात के यथार्थ में
घुल जाता है
तब मैं तुम्हारे सामने बैठ—
हर बार शान्ति का गीत गाता हूं
रीता-सा भी मुसकराता हूं
ताकि तुम वे आंसू न देख सको
जो मैंने कभी तुम्हारी याद में
बहाये थे।

□

दर्द दवा होता है अकेले चिनारों में

महफिल से उठाकर
कहां घसीटा है यारों ने
कांटों से बचे थे
आ फंसे हैं अब तारों में
कांटे तो कांटे हैं
चुभ कर टूट जाते हैं
तार तो तार हैं टूट कर—
भी झनझनाते हैं
उनकी झनझनाहट में
टीस उभरा करती है
जैसे मोम पिघल जाता है
अंगारों में।
बेमानी दर्द उठा करता है
निदान के लिए
दर्द दवा होता है कहीं अकेले
चिनारों में
हम तो जीकर भी जी न सके
वे तो जी लिए हैं
खोखले नारों में

एक अनाम यात्रा

जब हम कोई भी गीत गाते हैं
ज़िंदगी से थोड़ा सरक जाते हैं
हवाएं अपने ही रुख में वहती रहती हैं।
यादें समय को छील कर उभर आती हैं
दरियाओं का पानी चलता रहता है नाकाम
हर दिन के वाद उभर आती है थकी-सी इक शाम
हर शाम दिन की वात दोहराती है
हर सुवह शाम की उदासी भूल जाती है
प्रकृति नीचे झुककर धरती को—
करती है प्रणाम
अग्रसर होती हैं अनेक यात्राएं/अनाम
गीत की स्वर लहरियां—
हवा में तिरती रहती हैं
सौरभ विखेरते हैं केसर के कण
विह्वल हो उठता है उन्हें पकड़ने को मन
धीरे-धीरे जव स्वर—
टूटने लग जाते हैं
हम अपनी आगोश में वापिस लौट आते हैं

□

तुम्हारे मेरे विश्वासों की डगर

मैं ग़रीब हूं
ओ विश्वासों की संजीवनी पिलाने वालो
क्यों मेरे साथ मज़ाक करते हो ?
मेरे ऊपर
सफेद टुकड़ों से ढका आकाश
और पैरों तले
सूखे से सड़ी उपजाऊ जमीन
जो पानी तो पानी
लहू पीकर भी
बीज को अंकुर नहीं बना पाती
और तुम्हारे विश्वासों की डगर
हवाई सर्वेक्षण की
मोटी-मोटी खबरों के आस पास
गुजरती है ।
कई पांच वर्षों से भूखे
मेहनत-कश ये नर कंकाल
तुम्हारे रेडियों के गीत सुन-सुन कर
उस इमारत की राह ढूंढते हैं
जो कई देशों से आयातित

रंग-बिरंगी
ईंटों से बनी है;
टेढ़ी कई रेखाएं
एक वाद विशेष को इंगित करती हैं
इसके अन्दर
घुसने का साहस
इस भीड़ में नहीं
लेकिन जिस दिन यह भीड़
दिशा पाएगी
इन ककालो की हड्डियां
चटख कर गति पाएंगी,
डरावने अट्टहास
आग उगल कर
आंकड़ों की होलो जला देंगे
तब—
'वर्तमान' और 'भविष्य'
मेरे लिए असंदिग्ध
और तुम्हारे लिए—
संदिग्ध होंगे !

□

विडम्बना

ढली थकी-सी शाम
रात में विलीन होगई
रात की मौन यात्रा के—
राही ने
उषा का दामन थामा;
दूध वालों के भोंपू
कारख़ानों की चर्खियों में खो गए;
वड़ी-वड़ी तोंदवाले—
चींटियों के विल में—
अपने पाप वो[1] गए।
सुवह के सुरभित वातास में
फैल गए राम-नाम विषद
पापधी जन्म के
चन्दन घिस कर होगए अनघ
विषल आज वन गया नायक
पोथियां वन गई पीड़ाएं
विषापह हो गए
घायक।
पामर, लिंग पर पुष्पार्चन कर

विषद हो गए;
बुद्धिजीवी
बेकार हो कर सो गए;
लावारिस जान खदेड़ दिए
जाते हैं,
प्रात किरणों में नहाये
रूपहले कलश
किसी सेठ के जयकारों[2] से
गूंजे जाते हैं

□

---

1 बो गए : बीज गए
2 जयकार : जयघोष

ये सिसकते साज़

ये सिसकते साज़
चीखते भोंपुओं की आवाज़
चरमराते मज़ार की ईंटें
बरसात के छींटे
ये बढ़ते वीराने
ग़मों से भरे तराने
उठते उच्छ्वास
मुसकराती कलियों के—
फीके हास
ये ज़ग-लगीं सीखें
दबी हुई चीखें
टूटे तिनकों के छब्बे
जमे रक्त के धब्बे
ये टूटी सी धुंधली राहें
फैलते अन्धकार की—
बाहें
कुहासे में छुपे पत्थर—
टंकार करते हैं
झर-झर कर सूखे पत्तझड़ी—

पत्ते,
झड़ते हैं
कुहासे के नीचे पत्थरों की परतों—
पर कुछ घेरे हैं
कोंचना चाहा—
एक अहसास उभर आया
कोई कह रहा हो
मुझे चुप से
अपने श्वासों को ढोने दो
क्यों तंग करते हो
सोने दो।

❑

टूटती कतारें

पोथियां हो गईं व्यर्थ
महापुरुष बन गये बोने
कि उनके विचार—
अब मुझे कुलबुलाते नहीं
किसी कोमल क्षण में भी
मन को भाते नहीं
कि चींटियों की यह कतार
बरसात के बाद बढ़ती है
दूसरी बरसात आने तक
हर पांचवीं बरसात—
गहरी, तेज और ज़ोरदार—
होती है ;
कतारें टूट जाती हैं ;
थमने पर
तेल, घी के कनस्तर
और भोज पत्र
बाकी सब बह गया है ।
कतारों से तो ये कनस्तर अच्छे
जीवित भी हैं और बजते भी हैं ।

फिर एक वरसात ऐसी आई
कि कतारें विल्कुल टूट कर—
वह गईं
खाली कनस्तर और कुछ ढक्कन
विना मुर्दे के लिपटे –
कुछ खाली कफन;
चींटियां ही चींटियां –
कुछ वह गईं हैं कुछ अटकी हैं
कुछ चींटें वड़े-वड़े पत्थरों पर—
चढ़कर अपने को वचा गए हैं
कुछ पत्थरों की विरलों में समा गए हैं।
कुछ ने खुराक के भण्डारों पर –
अधिकार जमाया है
कोई भण्डार न मिलने पर
नेता वन उभर आया है
विकलांग, निस्सहाय से –
पानी द्वारा वहाये जा रहे हैं
कुछ निरीह से
सहायता की तलाश में
डूबने के डर से घवराये हैं
कौन सहायता देगा ?
भण्डार का अधिकारी ?
पत्थरों का राजा ?
नेता ?

वे स्वयं चाहते हैं
सहायता विकलांगो की,
निस्सहायों की;
"हमारा प्रभुत्व हो
ये हमारा जय-घोष करें
कतारें बनती रहें,
टूटती रहें
पर ये पत्थर
ये भण्डार
ये नेता गिरी के अजस्र स्रोत
अटल अचल रहें।

□

टूटते क्षणों की तलाश

पत्र, जो मैंने लिखे थे
तुमने पढ़ लिए होंगे
खाली पन्नों पर भाव भरे थे
शब्द तुमने गढ़ लिए होंगे।
संकेत भरे कोनों में
विखरी हैं
वच्चों के मौन सी भाषा
यही वृतान्त है, विवरण है
यही है मेरी
मूक अभ्यर्थना की परिभाषा।
हर वार जब वर्षा होती है
सच मानो—
अन्तर को ज्यादा भिगोती है
भीग जाते हैं हर वे क्षण—
जो तुम्हे निहारा करते हैं,
टूट कर विखर जाते हैं—
सव, वीते समय के रंग
इन्द्र धनुष यादों के
शालवनों पर मुखरित होते हैं

हर शाख पर
पाखी टिटबिट टिटबिट कर
अपने साथी के विछोह पर
अधजगे से सोते हैं
हर शाम उनका मिलना
काकली की ध्वनियों को
बिखेर देता है
मिलन का सुख,
दिन के विछोह के वाद
कितना मधुर होता है
हर वियोगी को इन क्षणों की पहचान होती है
पर सब पकड़ नहीं पाते इन क्षणों को
क्योंकि
सबका सुख अपना सुख नहीं होता—
जिस तरह सब का दुःख
अपना दुःख नहीं होता।

□

दिन निकलने से पहले

रात भर धरती ने बहाए थे आंसू
दिन ने लील लिए थे
दर्द बहता रहा निरन्तर
अनजाने ही ज़ख्म छील लिए थे।
पलाशों की तमतमाहट पिलिया आई
गुलाब कुछ इकहरे कुम्हला गए—
बासी हवा से
प्रौढ़ पत्ते झड़ गए पतझड़ की दुआ से।
कोंपले और मुकुल झुक आए थे बोझ से
हवाओं ने ठोका था तीन ताल
झंझाओं ने पंचम को उठाया
लहरों ने था पीड़ा का गीत गाया
रुक गए गले गीले दर्द के सोज़ से।
फिर उभरा था भोर का तारा
मुस्कराया, मुस्कान में ही उसका
संसार सारा
तरल स्वर मुखरित हुए
अनुभूतियां पिघल आईं
वहे अश्रु-बिन्दु मोती हो गए

चटके रंग, कलियां मुस्काईं
फिर जाने कब
शैवाल, फफूंद, काई ने ली अंगड़ाई
नागफनी ने आंख खोली, करवट ली मुस्कराई
उसके सहस्र बाहु फड़क उठे अधिकार के लिए
बोला—
"अरे गुलाब ! नाज़ुक हो
झेल नहीं पाओगे झंझा को
पारिजात ठण्डा है, आतपको क्या सहेगा
झुलस जाएंगे छिउल टेसू
पलाशों का रक्त बहेगा
चुक जाएंगे पत्ते मुर्झाएंगे फूल
बाकी क्या रहेगा ?"
गुलाब, गेंदा, टेसू—अपने महके रंगों को देखने लगे
अपने ही कांटों से खाए ज़ख्मों को सहलाने लगे
सूखे अश्रुमार्ग फिर से सरसराने लगे
'सच है तुम सहस्र-भुजा हो,
हमारी तो बाहें भूल गई हैं
आओ ! राज दण्ड सम्भालो
प्रशस्त करो उस मार्ग को जिसे हम भूल गए हैं'
तो नागफनी मुस्काराया
उसके सहस्र बाहु खुलकर चारों ओर फैल गए ।

□

तीस वसन्तों के बाद

सागर की लहरें
वार-वार गर्जन कर लौट जाती हैं
इच्छा होने पर भी –
वह सागर के किनारे ठहर नहीं पाती
कितना दुःख है/कितनी विडम्बना ।
तीस वसंतों के वाद
एक-एक लहर को –
गिनने लगा हूं ;
एक के वाद जव दूसरी को –
उठाकर देखता हूं
स्वप्नों के स्फुलिंगों को
राख की परतों के नीचे –
सजीव पाता हूं,
सूरज की एक दिगन्त से
दूसरे दिगन्त तक जाने की कुञ्चित इच्छा,
सजीव पाता हूं –
पक्षी के अपने घरौंदे में लौट जाने की
क्षीण आशा,
और पाता हूं चिरकाल से

संकुचित रास्तों में
हर समय चलती निराशा
घृणा, सन्देह, द्वेष
गतिमान होकर आगे वढ़ गए हैं
रेल के सिगनल की तरह
पीछे सरक गई है, भालोवाशा[1]
कई रेत के घरों को वनते देखा है
अनेकों उजास थे ज्योत्सना से
कण-कण रेत के बीच था
सागर की तरह गंभीर सार
माझियों के गीतों में थे
विस्तारित स्वप्न सुन्दर
अनेकों के कुचले गए हैं उद्वेलित मन
जिस तरह रोलर के नीचे दवा दिए जाएं
बीहड़ वन;
वाकी बचे हैं कुछ टूटे पाषाण स्तम्भ,
दु:ख, पीड़ा, वेदना, घृणा और निराशा
जिनके बीच लाठी की सहायता से
घूम फिर रही है क्षीण आशा
ढूंढ रही है भालोवाशा[1] भालोवाशा

1 भालोवाशा : प्रेम / स्नेह / प्यार।

खून की एक शाम

एक स्रोत, थोड़ी सी मछलियां
बड़े से तूत के दरख्त
उन की परछाई में महकता पानी
एक अन्धा गायक
स्वयंभू के धरातल तले
मुखरित होते स्वर
बाबा का धड़कता हाथ
समाधियों के धुंधले आवरण से ढका
वातास
कुछ पौधे फलों के
बूर सा मख़मली घास
बस ! एक आस, एक प्यास
बस जायें यहीं कहीं
सोई पत्थरों की दुनिया के आस-पास
केवल स्नेह-केवल प्यार
जीने के बाद थोड़ी सी हार
अपनों से अपनों की मनुहार—
नहीं चाहिए अब शोर
चलती गाड़ियों की आवाज़

लोगों के टूटने के स्वर
मशीनी मांस के पुतलों का सा व्यवहार
चाहिए—
टिर्‌विट्; टिट्-बिट् पक्षियों की चहचहाहट
मछलियों के सातरंगी परों का आह्वान—
सरिता के पानी में टप-टप गिरते—
फलों की आवाज
पक्षियों के डैनों से निकली
ध्वनियों का मुखरित साज़
और नहीं चाहिए कुछ थोड़ी सी भोर दे दो
अन्तर में जलने के लिए पीड़ा
थोड़ी और दे दो
उभरने दो स्वर फिर रजनीगन्धा के
जागने दो सोए पाण्डव सेना के अरमान
उभरने दो बलवीर कोई बभ्रुवाहन
फैलने दो चहुं ओर रक्त के छींटे
कटने दो अपनों से अपनों को
बिखरने दो दिग्‌विजय के सपनों को
कि वह जायें रक्त की नदियां
खून से सरोवार हो जाए मैदान
ठहर जायें, वहुत कुछ कड़वी मीठी स्मृतियां
वस बीत जाए यूं ही
खून की यह शाम

□

एक नए सूरज की तलाश

ठण्डी चट्टानों के तकिये पर—
सोया सूरज
उठकर कब पानी में उतर गया ?
किनारों पर सोई दूब के कान
ऐंठ गए
सकुचाहट से भीगी,
तरुणाई से नहाई
वह सुर्ख़ हो आई ।
कुलाचें भरते हुए
पानी में जाते सूरज ने
उसको अवश्य देखा होगा
अभी दिन मरा नहीं था
रात जन्मी नहीं थी
दिन के प्राण
सूरज के साथ वन्धे थे
और रात
सूरज की मुट्ठी गरमा रही थी,
पानी की उन्मुक्त तरंगों ने
कब सूरज को छुपा लिया

कोई नहीं जानता
उनके संघर्ष का चांद गवाह है,
सूरज का गुस्साया चेहरा
धीरे-धीरे पिलिया आया था
चांद मुस्कराया था
यही तो मौका था
अपनी प्रतिभा जितलाने का
पर बेचारा ! नहीं जानता
सूरज तो डूब कर फिर उभरेगा
पर चांद सूरज के रहते कहां जाएगा ?
चांद ने देखा—
वही दूब, जो सूरज के पानी में उतरते
सकुचा आई थी
रोने लगी है
उसके आंसू तृणों में लगे हैं
मोती बिन्दु की तरह
वह सोचने लगा
सूरज का जाना उसे रास नहीं आया
या
उसका आना दूब को नहीं भाया।

❑



हमारे प्रकाशन

●

काव्य संग्रह :

अन्तिम युद्ध की चाह	बलनील देवम्	10-00
बादलों में कैद सूर्य	आजाद कुमार मानव 'नाहर'	13-00
आहत चीड़ें	अशोक जेरथ	8-00

कहानी संग्रह :

उल्कापात	बलनील देवम्	10-00

शीघ्र प्रकाश्य :

आग जल रही है	बलनील देवम्	17-00

लेखक की नवीनतम काव्य रचनाओं का संग्रह